जैन-परम्परा में ध्यान

□ धर्मचन्द चौपड़ा

परिभाषा

चिन्तन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं, जैसे भ्रमर फूलों के रसपान में लीन रहता है वैसे ही लीनतापूर्वक मन का एक ही ध्येय-बिन्दु पर लगा रहना ध्यान कहलाता है। विषयान्तर होने पर ध्यान का क्रम टूट जाता है।

महत्त्व

व्यावहारिक भाषा में हम कहते हैं कि अमुक कार्य ध्यान से करना, ध्यान नहीं रखा तो कार्य बिगड़ जायेगा। साधारण-सी बात लीजिये—द्रव पदार्थ को एक पात्र से दूसरे पात्र में डालते समय पूरी एकाग्रता नहीं रखते हैं तो द्रव पदार्थ पात्र से बाहर चला जाता है। शीशी में इत्र भरना होता है तो भरते समय कितना ध्यान रखा जाता है। ध्यान नहीं रखा तो मूल्यवान इत्र शीशी से बाहर गिर जाता है। अध्यापक के पढ़ाते समय विद्यार्थी अपना ध्यान अध्यापक के वचनों की ओर नहीं रखता है तो वह ज्ञानार्जन नहीं कर सकता है। जिस प्रकार लौकिक कार्य में ध्यान की एकाग्रता आवश्यक है, उसी प्रकार आध्यात्मिक क्षेत्र में भी ध्यान की एकाग्रता आवश्यक है। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

ध्यानं तु विषये तस्मिन्नेकप्रत्यय संततिः।

अर्थात् अपने विषय में मन का एकाग्र हो जाना ध्यान है।

लगातार एक ही विषय पर ४८ मिनट से कुछ कम समय (अन्तर्मुहूर्त) तक ध्यान एकाग्र रह सकता है। फिर विषयान्तर हो जाता है।

आचार्य उमास्वाति ने कहा है—

उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्। आ मुहूर्तात्।

—तत्वार्थसूत्र ९। २७-२८

अर्थात् उत्तम संहनन वाले का एक विषय में अन्तःकरण की वृत्ति का स्थापन-ध्यान है। वह अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त रहता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

मुहूर्तान्तर्मनःस्थैर्यं ध्यानं छद्मस्थयोगिनाम्। —योगशास्त्र ४।११५

अर्थात् छद्मस्थ साधक का मन अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक स्थिर रहता है।

किन्तु मन को एकाग्र करना अत्यन्त कठिन है। इसके लिए निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः ।
बंधाय विषयाऽऽसंगि मोक्षे निर्विषयं स्मृतम् ।। —मैत्र्युपनिषद्

अर्थात् मन का संयम मोक्ष का और असंयम कर्मबन्ध का कारण है। विषयासक्त मन बन्धन का कारण और जो विषयों से बंधा नहीं है, वह मोक्ष का कारण है।

मन की शुभाशुभ परिणति के द्वारा आत्मा किस प्रकार उत्थान और पतन की ओर अग्रसर होती है, तत्सम्बन्धी प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का उदाहरण बड़ा ही मार्मिक है, जिन्होंने मन की अशुभ परिणति के द्वारा नरक के योग्य दलिक इकट्ठे कर लिए और कुछ ही समय पश्चात् मन की शुभ परिणति के प्रभाव से केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

एक गुजराती कवि ने कहा है—

अजब छे वेग आ मननो, गजब छे शक्ति पण भारी ।
घणा ज्ञानी अने ध्यानी, गया मन शत्रुथी हारी ।।

महान् सन्त आनन्दघनजी ने भगवान् कुन्थुनाथजी की स्तुति करते हुए लिखा है—हे भगवन् ! यह मन नपुंसकलिंग है, निर्बल है, बुजदिल है, परन्तु आज चिन्तन करता हूँ तो लगता है कि यह मन सारे संसार की शक्तियों को पीछे धकेल देता है। सब कार्य करना सरल है, परन्तु मनोनिग्रह करना कठिन है।

मनोनिग्रह के लिए गौतमस्वामी ने केशीस्वामी को बताया—

मणो साहसिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावइ ।
तं सम्मं तु निगिण्हामि, धम्मसिक्खाए कंथगं ।।

—उत्तराध्ययनसूत्र अ. २३, गा. ५९

अर्थात् मनरूपी साहसिक और भयानक दुष्ट घोड़ा चारों ओर भागता रहता है। जिस प्रकार जातिमान् घोड़ा शिक्षा द्वारा सुधर जाता है, उसी प्रकार मन रूपी घोड़े को सम्यक् प्रकार से धर्म की शिक्षा द्वारा मैं वश में रखता हूँ।

महमूद गजनवी को विजयोल्लास में हाथी पर बिठाया जाता है। जब गजनवी महावत से अंकुश मांगता है तो महावत कहता है—अंकुश तो महावत के हाथ ही रहता है। गजनवी तुरन्त हाथी से नीचे उतर जाता है और कहता है—जिसका अंकुश मेरे हाथ में नहीं है, उस पर मैं सवार नहीं होता। अभिप्राय यह कि मनरूपी घोड़े की लगाम अपने हाथ में होनी चाहिये। मन चपल घोड़े के समान है, जिसे धर्म-शिक्षा रूपी लगाम से ही वश में किया जा सकता है।

चंचल मन को वश में करने के लिए गीता में दो उपाय बताये हैं—

अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ।

अर्थात् यह मन दो प्रकार से वश में किया जा सकता है—अभ्यास के द्वारा और वैराग्य के द्वारा। अभ्यास का अर्थ है एकाग्रता की पुनः पुनः साधना और वैराग्य का अर्थ है विषयों के प्रति विरक्ति। एकाग्रता के अभ्यास और विषयविरक्ति के द्वारा मन को काबू में किया जा सकता है।

आसमस्थ तम
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

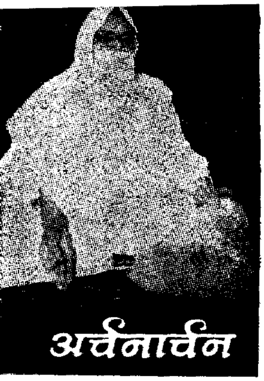

मन की अवस्थाओं को जाने बिना और उसे उच्चस्थिति में स्थित किये बिना योग-साधना संभव नहीं है।

हेमचन्द्राचार्य ने स्वानुभव को योगशास्त्र के बारहवें प्रकाश में उद्घाटित करते हुए सर्वप्रथम अवस्थाओं के आधार पर मन के भेदों का निरूपण किया है—

इह विक्षिप्तं यातायातं श्लिष्टं तथा सुलीनं च।
चेतश्चतुः प्रकारं तज्ज्ञचमत्कारकारि भवेत्॥ —योगशास्त्र १२।२

योगाभ्यास के प्रसंग में मन चार प्रकार का है—(१) विक्षिप्त मन, (२) यातायात मन, (३) श्लिष्ट मन, (४) सुलीन मन। चित्त के व्यापारों की ओर ध्यान देने वालों के लिए यह भेद चमत्कारजनक होते हैं।

विक्षिप्त मन चंचल है जो भटकता रहता है। यातायात मन कुछ आनन्दवाला है, वह कभी बाहर चला जाता है कभी अन्दर स्थिर हो जाता है। प्राथमिक अभ्यास में ये दोनों स्थितियां होती हैं। श्लिष्ट मन स्थिर होने के कारण आनन्दमय होता है और सुलीन मन अत्यन्त स्थिर होने के कारण परमानन्दमय होता है।

जैसे-जैसे क्रमशः चित्त की स्थिरता बढ़ती है, वैसे-वैसे आनन्द की मात्रा भी बढ़ती जाती है। अत्यन्त स्थिरचित्तता से परमानन्द की प्राप्ति होती है।

मन के भेदों को समझकर चित्त-स्थिरता की योग्यता प्राप्त करके ध्यान में प्रवृत्त होना चाहिये।

ध्यान की एकाग्रता को ठीक तरह से समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा—

गुरु द्रोणाचार्य के पास राजकुमारों की धनुर्विद्या पूरी हो चुकी थी। सिर्फ धनुर्विद्या की श्रेष्ठ कला राधावेध की परीक्षा शेष थी। द्रोणाचार्य सभी राजकुमारों को लेकर वन में गये। मयूरपंख एक वृक्ष की शाखा से लटका दिया गया। द्रोणाचार्य ने मयूरपंख की ओर संकेत करते हुए कुमारों से कहा—

इस मयूरपंख की आँख (चन्द्रमा का-सा निशान अथवा चन्दोवा) वेधना है। तैयार हो जाओ।

द्रोणाचार्य ने सबसे पहले युधिष्ठिर को संकेत करके बुलाया। युधिष्ठिर धनुष पर बाण रखकर खड़े हो गये। तब द्रोणाचार्य ने पूछा—युधिष्ठिर! तुम क्या देखते हो?

युधिष्ठिर—गुरुजी, मैं आपको, अपने भाइयों को, वृक्ष को, मयूरपंख को, सभी को देख रहा हूँ।

ध्यानपूर्वक देखो, वत्स!

हाँ गुरुजी! मुझे सब कुछ स्पष्ट दिखाई दे रहा है।

युधिष्ठिर के इस उत्तर से द्रोणाचार्य निराश हो गये। वे समझ गये कि यह लक्ष्यवेध नहीं कर सकता। फिर भी उन्होंने तीर छोड़ने की आज्ञा दी। लक्ष्य पर युधिष्ठिर का ध्यान केन्द्रित नहीं था, निशाना चूक गया।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उसके बाद गुरुजी ने दुर्योधन आदि सभी कुमारों की परीक्षा ली। उनसे भी वही प्रश्न किया गया और सभी ने वही उत्तर दिया।

सभी लक्ष्यवेध में विफल हुए। अन्त में अर्जुन की बारी आई। अर्जुन से भी गुरुजी ने वही प्रश्न किया— अर्जुन! क्या देखते हो?

लक्ष्य पर दृष्टि जमाये अर्जुन ने उत्तर दिया—मुझे सिर्फ मयूरपंख ही दिखाई देता है।

गुरुजी—ध्यान से देखो, वत्स!

अर्जुन—अब तो मुझे चंदोवा ही दिखाई देता है।

गुरुजी—क्या तुम्हें वृक्ष, अपने भाई और मैं कुछ भी नहीं दिखाई देता है?

जी नहीं!

अर्जुन की दृष्टि लक्ष्य पर एकाग्र हो चुकी थी, उसने बाण छोड़ा। लक्ष्यवेध हो गया। अर्जुन परीक्षा में सफल हुआ तथा महान् धनुर्धर बना।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लक्ष्यवेध के लिए अडोल एकाग्रता की आवश्यकता है, इसी प्रकार ध्यान में एकाग्रता की आवश्यकता है।

यह है ध्यान की एकाग्रता का महत्त्व! जिसके द्वारा आत्मा कर्मों को छिन्न-भिन्न कर सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन सकता है।

सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य।
सव्वस्स साहुधम्मस्स, तहा झाणं विधीयते॥

अर्थात् आत्मशोधन में ध्यान का ऐसा प्रमुख स्थान है जैसे शरीर में मस्तिष्क का तथा वृक्ष में उसकी जड़ का। आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है—

ध्यानाग्निदग्धकर्मा तु सिद्धात्मा स्यान्निरञ्जनः।

अर्थात् ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा आत्मा कर्मों को जलाकर सिद्धस्वरूप पा लेता है।

ध्यान की इच्छा रखने वाले साधक के लिए निम्न बातें जानने योग्य हैं—(१) ध्याता, (२) ध्यान, (३) फल, (४) ध्येय, (५) ध्यान का स्वामी, (६) ध्यान के योग्य क्षेत्र, (७) ध्यान के योग्य समय, (८) ध्यान के योग्य अवस्था।

(१) **ध्याता**—वह व्यक्ति ध्यान का अधिकारी माना गया है, जो जितेन्द्रिय है, धीर है, जिसके क्रोधादि कषाय शान्त हैं, जिसकी आत्मा स्थिर हो, जो सुखासन में स्थित हो एवं नासा के अग्रभाग पर नेत्र टिकाने वाला है।

(२) **ध्यान**—अपने ध्येय में लीन हो जाना अर्थात् आज्ञाविचयादि रूप से स्वयं परिणत हो जाना—रम जाना ध्यान है।

(३) **फल**—ध्यान का फल संवर और निर्जरा है। भौतिक सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए ध्यान करना निषिद्ध है।

(४) **ध्येय**—जिस इष्ट का अवलम्बन लेकर ध्यान-चिन्तन किया जाता है, उसे ध्येय कहते हैं। ध्येय के चार प्रकार हैं—(१) पिंडस्थ, (२) पदस्थ, (३) रूपस्थ, (४) रूपातीत।

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(५) ध्यान का स्वामी—(i) वैराग्य, (ii) तत्त्वज्ञान, (iii) निर्ग्रन्थता, (iv) समचित्तता, (v) परिषहजय, ये पाँच ध्यान के हेतु हैं। इनके अतिरिक्त उच्च संस्कारिता, तत्त्वज्ञान प्राप्ति के लिए सद्गुरु की निरन्तर सेवा-शुश्रूषा, विषयों के प्रति उदासीनता, कषायों का निग्रह, व्रत धारण, इन्द्रियजय, मन में अतुल शांति और दृढ़तम संकल्प होना चाहिये। इनसे सम्पन्न व्यक्ति ध्यान का स्वामी कहलाता है।

(६) ध्यान का क्षेत्र—जहाँ ध्यान में विघ्न करने वाले उपद्रवों एवं विकारों की सम्भावना न हो, ऐसा क्षेत्र ध्यान के योग्य माना जाता है।

(७) ध्यान के योग्य काल—यद्यपि जब भी मन स्थिर हो उसी समय ध्यान किया जा सकता है फिर भी अनुभवियों ने प्रातःकाल को सर्वोत्तम माना है।

(८) ध्यान के योग्य अवस्था—शरीर की स्वस्थता एवं मन की शांत अवस्था ध्यान के लिए उपयुक्त कहलाती है।

प्रकार

आर्त्त, रौद्र, धर्म और **शुक्ल** ये ध्यान के चार प्रकार हैं। व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र में भी गौतम व भगवान् के प्रश्नोत्तरों में ध्यान चार प्रकार का बताया है।

प्रथम दो—आर्तध्यान और रौद्रध्यान अप्रशस्त हैं। ये संसार-भ्रमण के कारण हैं और अन्तिम दो—धर्मध्यान और शुक्लध्यान प्रशस्त हैं, जो मुक्ति के कारण हैं। वस्तुतः अप्रशस्त और प्रशस्त ध्यानों में थूहर के दूध और गाय के दूध जितना अन्तर है। अप्रशस्त ध्यानों को विशिष्ट ध्यान की कोटि में नहीं रखा जाता है, तथापि एकाग्रता की दृष्टि से उन्हें भी ध्यान के भेदों में परिगणित किया गया है।

प्रशस्त ध्यानों का स्वरूप इस प्रकार है—

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के नवें अध्ययन में **आर्तध्यान** का निरूपण करते हुए लिखा है—

आर्तममनोज्ञानां सम्प्रयोगे तद्विप्रयोगायस्मृतिसमन्वाहारः।
वेदनायाश्च।
विपरीतं मनोज्ञानाम्।
निदानं च। —तत्त्वार्थसूत्र ९।३१-३२-३३-३४

मनोज्ञ व अमनोज्ञ वस्तुओं पर रागद्वेषमय चिन्तन की एकाग्रता को आर्तध्यान कहते हैं। वह चार प्रकार का है—(१) प्राप्त अप्रिय वस्तु के वियोग के लिए चिन्ता करना, (२) आये हुए दुःख को दूर करने की सतत चिन्ता करना, (३) प्रिय वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत चिन्ता करना और (४) निदान करना।

वह अविरत, देशसंयत और प्रमत्तसंयत गुणस्थानों में संभव है।

स्थानांगसूत्र के चौथे स्थान के पहले उद्देशक में आर्तध्यान के चार लक्षण बतलाये हैं, यथा—
(१) क्रन्दनता (रोना) (२) शोचनता (चिन्ता या शोक करना)
(३) तेपनता (बार-बार अश्रुपात करना) (४) परिदेवनता (विलाप करना)।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रौद्रध्यान का निरूपण

हिंसाऽनृतस्तेयविषय संरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः । —तत्त्वार्थसूत्र ९।३६

हिंसा, असत्य, चोरी और विषयरक्षण के लिए सतत चिन्ता रौद्रध्यान है, वह अविरत और देशविरत गुणस्थान में सम्भव है ।

स्थानांगसूत्र में इसके भी चार लक्षण बताये हैं, यथा—

(१) **उत्सन्नदोष**—हिंसादि किसी एक पाप में निरन्तर प्रवृत्ति करना ।
(२) **बहुदोष**—हिंसादि सभी पाप करना ।
(३) **अज्ञानदोष**—कुसंस्कारों से हिंसादि अधार्मिक कार्यों में धर्म मानना ।
(४) **आमरणान्तदोष**—मरणकाल तक भी हिंसादि करने का अनुताप न होना ।

रौद्रध्यान के विषय में मणिरथ का ज्वलंत उदाहरण हमारे समक्ष है, जिसने अपने भाई की पत्नी मदनरेखा को पाने के लिए अपने लघुभ्राता युगबाहु की हत्या करके दुर्गति पाई और अपनी आत्मा को पतित बनाया ।

जो आत्मोत्थान करने वाले हैं, जीव के साथ अनादि काल की कर्मपरम्परा को नष्ट कर नीरज बनाने वाले हैं, ऐसे प्रशस्त ध्यानों का स्वरूप इस प्रकार है—

धर्मध्यान

धम्मे झाणे चउव्विहे चउप्पडोयारे पण्णत्ते तंजहा—
आणाविजए, अवायविजए, विवागविजए, संठाणविजए ।।

—व्याख्याप्रज्ञप्तिसूत्र २५।७, स्थानांग ४।१

धर्मध्यान चार प्रकार का और चतुष्प्रत्यवतार (स्वरूप, लक्षण, आलम्बन और अनुप्रेक्षा—इन चार पदों में अवतरित) कहा गया है । यथा—

१. **आज्ञाविचय**—जिन-आज्ञा रूप प्रवचन के चिन्तन में संलग्न रहना । सर्वज्ञ की आज्ञा क्या ? कैसी होनी चाहिये ? परीक्षा करके वैसी आज्ञा का पता लगाने के लिए श्रुत और चारित्र रूप धर्माराधना के लिए मनोयोग लगाना आज्ञाविचय धर्मध्यान है ।

२. **अपायविचय**—संसार पतन के कारणों एवं निज दोषों का विचार करते हुए उनसे बचने के उपाय सम्बन्धी मनोयोग लगाना अपायविचय धर्मध्यान है ।

३. **विपाकविचय**—कर्मों के फल का विचार करना । अनुभव में आने वाले विपाकों में कौन-सा विपाक किस कर्म का आभारी है तथा अमुक कर्म का अमुक विपाक सम्भव है, इसके विचारार्थ मनोयोग लगाना विपाकविचय धर्मध्यान है ।

४. **संस्थानविचय**—जन्म-मरण के आधारभूत पुरुषाकार लोक के स्वरूप का विचार करने में मनोयोग लगाना । इस अनादि अनन्त जन्म-मरण-प्रवाह रूप संसारसागर से पार करने वाली ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप अथवा संवर-निर्जरा रूप धर्म नौका का विचार करना, ऐसे धर्म-चिन्तन में मनोयोग लगाना संस्थानविचय धर्मध्यान है ।

आसनस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

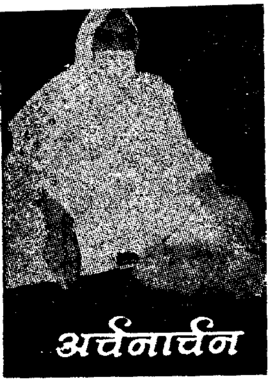

धर्मध्यान के चार लक्षण[1]

१. आज्ञारुचि—जिन आज्ञा के चिन्तन-मनन में रुचि, श्रद्धा एवं भक्ति होना।
२. निसर्गरुचि—धर्म कार्यों के करने में स्वाभाविक रुचि होना।
३. सूत्ररुचि—आगम शास्त्रों के पठन-पाठन में रुचि होना।
४. अवगाढरुचि—द्वादशांगी का विस्तारपूर्वक ज्ञान प्राप्त करने में प्रगाढ़ रुचि होना।

धर्मध्यान के चार आलम्बन[2]

१. वाचना—आगमसूत्र का पठन-पाठन करना।
२. प्रतिपृच्छना—शंका निवारणार्थ गुरुजनों से पूछना।
३. परिवर्तना—पठित सूत्रों का पुनरावर्तन करना।
४. अनुप्रेक्षा—अर्थ का चिन्तन करना।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ[3]

१. एकत्वानुप्रेक्षा—जीव के सदा अकेले परिभ्रमण और सुख-दुःख भोगने का चिन्तन करना।
२. अनित्यानुप्रेक्षा—सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता का चिन्तन करना।
३. अशरणानुप्रेक्षा—जीव को कोई दूसरा धन-परिवार आदि शरणभूत नहीं, ऐसा चिन्तन करना।
४. संसारानुप्रेक्षा—चतुर्गति रूप संसार की दशा का चिन्तन करना।

कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में ध्यान के चार आलम्बन बताये हैं, जो इस प्रकार हैं—

पिंडस्थं च पदस्थं च रूपस्थं रूपवर्जितम्।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बनं बुधैः॥ —योगशास्त्र ७।८

ज्ञानी पुरुषों ने ध्यान के आलम्बन रूप ध्येय को चार प्रकार का माना है—१. पिंडस्थ, २. पदस्थ, ३. रूपस्थ और ४. रूपातीत।

१. पिंडस्थध्यान—पिण्ड का अर्थ है शरीर। शान्त, एकान्त स्थान में किसी योग्य आसन पर स्थिर बैठकर शरीर (पिंड) में स्थित आत्मदेवता का ध्यान करना पिंडस्थध्यान है। इसमें शुद्ध निर्मल आत्मा को लक्ष्य में रखकर चिन्तन किया जाता है।

पिंडस्थध्यान की पांच धारणाएँ बताई गई हैं—

१. पार्थिवी, २. आग्नेयी, ३. वायवी, ४. वारुणी, ५. तत्त्वरूपवती।

२. पदस्थध्यान

यत्पदानि पवित्राणि समालम्ब्य विधीयते।
तत्पदस्थं समाख्यातं ध्यानं सिद्धान्तपारगैः॥ —योगशास्त्र ८।१

१-२-३ स्थानांगसूत्र ४।१ तथा व्याख्याप्र. सू. २५।७

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पवित्र मंत्राक्षररूप आदि पदों का आलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है, उसे सिद्धान्त के पारगामी पुरुष 'पदस्थ-ध्यान' कहते हैं।

इस ध्यान में अपने इष्ट पदों का जैसे नमस्कार महामंत्र तथा अन्य शास्त्रीय वाक्यों का स्मरण करते हुए साधक उनमें तदाकार होने का प्रयत्न करता है।

३. रूपस्थध्यान

> **सर्वातिशययुक्तस्य केवलज्ञानभास्वतः।**
> **अर्हतो रूपमालम्ब्य ध्यानं रूपस्थमुच्यते ॥** —योगशास्त्र ९।७

समस्त अतिशयों से सम्पन्न केवलज्ञान के प्रकाश से युक्त, परम पद को प्राप्त और समवसरण में स्थित अरिहंत भगवान् के स्वरूप का आलम्बन करके किया जाने वाला ध्यान 'रूपस्थ-ध्यान' कहलाता है।

४. रूपातीतध्यान

> **अमूर्तस्य चिदानन्दरूपस्य परमात्मनः।**
> **निरञ्जनस्य सिद्धस्य ध्यानं स्याद्रूपवर्जितम् ॥** —योगशास्त्र १०।१

निराकार, चैतन्यस्वरूप, निरञ्जन सिद्ध परमात्मा का ध्यान 'रूपातीत-ध्यान' कहलाता है।

शुक्लध्यान

ध्यान की यह परम उज्ज्वल निर्मल दशा है। मन से जब विषय-कषाय दूर हो जाते हैं तो उसकी मलिनता अपने आप हट जाती है। मन निर्मलता को प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में साधक शरीर पर होने वाले उपसर्गों, परिषहों से तनिक भी प्रभावित नहीं होता है। देहातीत अवस्था प्राप्त कर लेता है। जैसे गजसुकुमाल मुनि के मस्तक पर अंगारे रख देने पर भी वे उस मारणांतिक पीडा से अकम्पित और अचंचल बने रहकर शुक्लध्यान में लीन रहे।

वज्रऋषभनाराचसंहनन वाले और पूर्वश्रुत के धारक मुनि ही शुक्लध्यान करने में समर्थ होते हैं। अल्प सामर्थ्य वाले मनुष्यों के चित्त में शुक्लध्यान के योग्य स्थिरता नहीं आ सकती।

शुक्लध्यान के प्रकार

शुक्लध्यान के दो भेद हैं—शुक्ल और परम शुक्ल।

पहले के दो शुक्लध्यान पूर्वधर को होते हैं। बाद के दो (परम) शुक्लध्यान केवली भगवान् को होते हैं।

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृतीनि। —तत्त्वार्थसूत्र ९।४१

१. पृथक्त्व-वितर्क, २. एकत्व-वितर्क ३. सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति और ४. व्युपरतक्रियाऽनिवृति, ये चार शुक्लध्यान हैं।

आसमस्थ तन
आत्मस्थ मन
तब हो सके
आश्वस्त जन

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१. **पृथक्त्ववितर्क-सविचार**—पृथक्त्व का अर्थ है भेद। वितर्क का अर्थ है श्रुत। इस ज्ञान में पूर्वगत श्रुत का सहारा लेकर वस्तु के विविध भेदों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिंतन किया जाता है।

इस ध्यान में अर्थ—द्रव्य, व्यंजन—शब्द और योग का संक्रमण होता रहता है। ध्याता कभी अर्थ का चिन्तन करते करते शब्द का और शब्द का चिन्तन करते-करते अर्थ का चिन्तन करने लगता है।

अर्थ, व्यंजन और योग का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येयद्रव्य एक ही होता है, अतः इस दृष्टि से स्थिरता बनी रहती है। अतः इसे ध्यान कहने में कोई बाधा नहीं है।

२. **एकत्ववितर्क-अविचार**—श्रुत के अनुसार अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण से रहित एकपर्यायविषयक यह ध्यान होता है।

पहले प्रकार के शुक्लध्यान में शब्द, अर्थ और योगों का उलटफेर होता रहता है, किन्तु दूसरे में इतनी विशिष्ट स्थिरता होती है कि उलट-फेर बंद हो जाता है।

३. **सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति**—निर्वाणगमन का समय सन्निकट आ जाने पर केवली भगवान् मनोयोग और वचनयोग तथा बादर-काययोग का निरोध कर लेते हैं। केवल श्वासोच्छ्वास आदि सूक्ष्मक्रिया ही शेष रह जाती है। तब जो ध्यान होता है, वह सूक्ष्म-क्रिया-अप्रतिपाति शुक्लध्यान कहलाता है।

४. **व्युपरतक्रियाऽनिवृत्ति**—शुक्लध्यान की तीसरी दशा अयोगीदशा की प्रथम भूमिका है। उस ध्यान में श्वासोच्छ्वास की क्रिया शेष रहती है। चतुर्थ ध्यान में प्रविष्ट होते वह दशा भी समाप्त हो जाती है। सर्वथा योगों का निरोध करके पर्वत की तरह निश्चल केवली भगवान् जब शैलेशीकरण करते हैं और चौदहवें गुणस्थान की श्रेणी में आरूढ होकर अयोगी केवली होते हैं, उस समय यह ध्यान होता है। इसके द्वारा आत्मा के साथ शेष रहे चार अघाती कर्म क्षीण हो जाते हैं और केवली भगवान् सिद्ध अवस्था प्राप्त कर लेते हैं।

□□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org